सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

दूसरा भाग

गांधीजीकी रचनाओंमेंसे उनकी जीवन-शिक्षाका
बालकोपयोगी संग्रह

उत्तरप्रदेशके शिक्षा-विभाग द्वारा वहांके समस्त जूनियर हाईस्कूलोंकी
सातवीं कक्षाके लिए सहायक पाठ्यपुस्तकके रूपमें स्वीकृत

१६८१

सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक

यशपाल जैन

मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल,

नई दिल्ली

•

अट्ठाईसवीं बार : १९८१

मूल्य

००.८०पैसे

•

मुद्रक

अग्रवाल प्रिंटर्स,

दिल्ली-

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में महात्मा गांधी की कई पुस्तकों में से चुनकर सामग्री इकट्ठी की गई है और उनके वे सब बुनियादी विचार शामिल कर लिये गए हैं, जो युवकों, विशेषकर स्कूलों और कालेजों के छात्र और छात्राओं के चरित्र-निर्माण की दृष्टि से परम आवश्यक हैं। गांधीजी ने सबसे अधिक जोर आदमी के चरित्र के विकास पर दिया है। उनका मानना था कि यदि व्यक्ति सुधर जाय तो समाज और राष्ट्र अपने आप सुधर जायंगे। इस पुस्तक में अधिकांश उन विषयों को ही लिया गया है जो आदमी के अन्दर गुणों का विकास करने और उसे उपयोगी नागरिक बनाने की शिक्षा देते हैं।

हम चाहते हैं कि बापू की शिक्षाओं की सार-रूप यह पुस्तक लाखों की संख्या में प्रसारित होकर बालक-बालक के हाथ में पहुंचे, वे इसे पढ़ें और उसकी शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारें। यह काम भारतीय राज्यों के शिक्षा-संचालकों के सहयोग से ही संभव हो सकेगा। अतः शिक्षाधिकारियों से हमारा अनुरोध है कि वे अपने राज्य के स्कूलों और कालेजों के बालकों में इन विचारों को अधिक-से-अधिक फैलाने में 'मंडल' को सहायता देने की कृपा करें। कहने की आवश्यकता नहीं कि जहां यह पोथी विद्यार्थियों को कर्तव्य का बोध कराती और संयम एवं अनुशासन का पाठ पढ़ाती है, वहां यह उन्हें सेवा-भावी तथा सदाचार-युक्त जीवन के निर्माण में योग देती है। विद्यार्थियों से हमारा निवेदन है कि वे इन पुस्तकों को पढ़ें और सोचें कि उनके बापू उनसे क्या आशा रखते थे और उन्हें कैसा बनाना चाहते थे।

—मंत्री

विषय-सूची

गांधी-शिक्षा

[दूसरा भाग]

: १ :

सादगी की ओर

कोई यह न समझे कि (विलायत के) नाच आदि के मेरे प्रयोग मेरी स्वच्छन्दता के युग को सूचित करते हैं। पाठकों को ध्यान से देखने पर उसमें कुछ विचारांश भी मिलेगा। परन्तु इस मोह-काल में भी कुछ अंश तक मैं सावधान था। पाई-पाई का हिसाब रखता। खर्च का अन्दाज निश्चित था कि महीने में १५ पौंड से अधिक खर्च न हो। बस का किराया और डाक-खर्च भी हमेशा लिखता और सोने से पहले हमेशा अपनी रोकड़ मिला लेता था। यह आदत अन्त तक कायम रही और मैं समझता हूं कि इसी कारण सार्वजनिक जीवन में मेरे हाथों से लाखों रुपयों का उलट-फेर होनेपर भी मैं किफायतशारी से काम ले पाया और जितने आन्दोलन मेरी देख-रेख में चले हैं, उनमें मुझे कर्ज नहीं करना पड़ा, बल्कि हरेक में कुछ-न-कुछ बचत ही रही है।

मैंने खर्च आधा कर डालने का विचार किया। हिसाब को गौर से देखा तो मालूम हुआ कि गाड़ी-भाड़े का काफी खर्च बैठता था। फिर एक कुटुम्ब के साथ रहने के कारण कुछ-न-कुछ खर्च प्रति सप्ताह हो ही

जाता। इसलिए कुटुम्ब के साथ रहना छोड़कर अलग कमरा लेकर रहने का निश्चय किया और यह भी तय किया कि काम के अनुसार तथा अनुभव प्राप्त करने के लिए अलग-अलग मुहल्लों में घर लेने चाहिए। घर ऐसी जगह पसन्द किया कि जहां से काम के स्थान पर आधे घंटे पैदल चलकर पहुंच सकें और गाड़ी-भाड़ा बच जाय। इससे पहले आने के लिए एक तो गाड़ी-भाड़ा खर्च करना पड़ता और दूसरे घूमने जाने के लिए अलग वक्त निकालना पड़ता। अब काम से जाने में ही घुमाई का काम भी पूरा होने लगा। इस योजना की बदौलत आठ-दस मील तो मैं सहज ही में घूम-फिर डालता। विशेषतः एक इसी आदत के कारण मैं विलायत में शायद ही बीमार पड़ा होऊंगा और शरीर ठीक कस गया था। कुटुम्ब के साथ रहना छोड़कर दो कमरे किराये पर लिये, एक सोने के लिए और एक उठने-बैठने के लिए। यह परिवर्तन का दूसरा काम था। तीसरा परिवर्तन अभी आगे आनेवाला है।

इस तरह आधा खर्च बचा। पर समय ? मैं जानता था कि बैरिस्टरी की परीक्षा के लिए बहुत पढ़ने की जरूरत नहीं होती। इसलिए मैं बेफिकर था, पर मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे खला करती थी। इसलिए मैंने सोचा कि बैरिस्टर होने के अतिरिक्त मुझे कुछ और अध्ययन भी करना चाहिए। आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के कोर्स का पता लगाया। कितने ही मित्रों से मिला। देखा कि वहां जाने से खर्च बहुत पड़ेगा और पाठ्य-क्रम भी बहुत लंबा

था। मैं तीन वर्ष से ज्यादा वहां रह नहीं सकता था। एक मित्र ने कहा, "यदि तुम्हें कोई कठिन ही परीक्षा देनी हो तो लन्दन का मैट्रिक्यूलेशन पास कर लो। उसमें परिश्रम काफी करना पड़ेगा और सामान्य ज्ञान बढ़ जायगा। खर्चा बिलकुल न बढ़ेगा।" यह राय मुझे पसन्द आई; पर परीक्षा की विषय-सूची देखकर मैं घबराया। उसमें लैटिन और एक दूसरी भाषा अनिवार्य थी। लैटिन कैसे होगी? पर उस मित्र ने कहा—"वकील के लिए लैटिन का बड़ा उपयोग होता है। लैटिन जाननेवाले को कानूनी पुस्तकें समझने में सहूलियत होती है। फिर रोमन लॉ की परीक्षा में एक प्रश्न-पत्र तो केवल लैटिन भाषा का ही होता है और लैटिन जान लेने से अंग्रेजी भाषा पर अधिकार बढ़ता है।" मुझ पर इन दलीलों का असर हुआ। मैंने निश्चय किया और एक व्यक्तिगत चलनेवाले मैट्रिक्यूलेशन क्लास में भर्ती हुआ। परीक्षा हर छठे महीने होती। मुझे मुश्किल से पांच महीने का समय था। यह मेरे बूते के बाहर का काम था। नतीजा यह हुआ कि कहां तो मैं सभ्य बनने चला था और कहां अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया! टाइमटेबुल बनाया। एक-एक मिनट बचाया; परन्तु मेरी बुद्धि और स्मरण-शक्ति ऐसी न थी कि दूसरे विषयों के उपरान्त लैटिन और फ्रेंच को भी संभाल सकता। इम्तिहान में बैठने पर लैटिन में फेल हो गया। इससे दुःख तो हुआ, पर हिम्मत न हारी। लैटिन में मजा आने लगा था। सोचा कि फ्रेंच ज्यादा मजबूत हो जायगी और विज्ञान में नया

विषय ले लूंगा। रसायनशास्त्र, जिसमें मैं देखता हूं कि खूब मन लगना चाहिए, प्रयोगों के अभाव में, मुझे अच्छा ही न लगा। देश में यह विषय मेरे पाठ्य-क्रम में रहा ही था। इसलिए लन्दन-मैट्रिक के लिए भी पहली बार इसीको पसन्द किया। इस बार 'प्रकाश औरउष्णता' (Light and Heat)को लिया। यह विषय आसान समझा जाता था और मुझे भी आसान ही मालूम हुआ।

फिर परीक्षा देने की तैयारी के साथ ही रहन-सहन में और भी सादगी लाने की कोशिश शुरू की। मुझे लगा कि अभी मेरे जीवन में इतनी सादगी नहीं आई है, जो मेरे कुटुम्ब की गरीबी के अनुकूल हो। भाई साहब की तंगदस्ती और उदारता का खयाल आते ही मुझे बड़ा कष्ट होता। दस-पन्द्रह पौंड मासिक खर्च करनेवालों को छात्रवृत्तियां मिलती थीं। अपने से अधिक सादगी से रहनेवालों को मैं देखता था। ऐसे गरीब विद्यार्थी काफी तादाद में मेरे संपर्क में आते थे। एक विद्यार्थी लन्दन के गरीब मुहल्ले में प्रति सप्ताह दो शिलिंग देकर एक कोठरी में रहता था और सस्ती कोको की दुकानों में दो पेनी का कोको और रोटी खाकर गुजारा करता था। उसकी बराबरी करने की तो मेरी हिम्मत न हुई, पर इतना अवश्य समझा कि मैं दो के बजाय एक कमरे में ही गुजर कर सकता हूं और आधी रसोई हाथ से भी पका सकता हूं। ऐसा करने से ४ या ५ पौंड मासिक में मैं रह सकता था। सादी रहन-सहन सम्बन्धी पुस्तकें भी पढ़ी थीं। दो कमरे छोड़कर आठ

शिलिंग प्रति सप्ताह पर एक कमरा लिया। एक स्टोव खरीदा और सवेरे का खाना हाथ से पकाने लगा। बीस मिनट से अधिक पकाने में नहीं लगते थे। जौ का दलिया और कोको के लिए पानी उबालने में कितना समय लगता ? दोपहर को बाहर कहीं खा लेता और शाम को फिर कोको बनाकर रोटी के साथ लेता। यों एक या सवा शिलिंग में रोज खाना-पीना सीख गया। यह मेरा समय अधिक-से-अधिक पढ़ाई का था। जीवन सादा हो जाने से समय ज्यादा बचने लगा। दूसरी बार इम्तिहान में बैठने पर पास हो गया।

पाठक यह न समझें कि सादगी से जीवन में नीरसता आ गई हो। उलटे इन परिवर्तनों से मेरी भीतरी और बाहरी स्थिति में एकता आई। घर की स्थिति के साथ मेरी रहन-सहन का मेल सध गया। जीवन अधिक सार-युक्त हो गया। आत्मिक आनन्द की सीमा न रही।

: २ :

विद्याभ्यास

हम विद्याभ्यास का अर्थ और उस अर्थवाला विद्याभ्यास प्राप्त करने की रीति नहीं जानते या हमारा मन प्रचलित पद्धति ठीक है, यह मानकर काम कर रहा है। मेरी दृष्टि से प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-कराने की रीति में बहुत दोष है।

सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्म को, अपने आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचानें। इस

पहचानने के लिए किसीको साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसीको भौतिक शास्त्र की, किसी को कला की; पर विद्यामात्र का उद्देश्य आत्म-दर्शन* होना चाहिए। आश्रम में यह है। उसकी दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे हैं। ये सारे उद्योग मेरे अर्थ में शुद्ध विद्याभ्यास हैं। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यही धंधे चल सकते हैं। इस रीति से चलें तो वे आजीविका कें या दूसरे साधन हो सकते हैं, पर विद्याभ्यास न होंगे। विद्याभ्यास के पीछे समझ, कर्त्तव्य-परायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है। जहां समझ हो वहां बुद्धि-विकास होता ही है। छोटे-से-छोटा काम करते हुए शिवसंकल्प होना चाहिए। उसका कारण, उसका शास्त्र समझने का प्रयत्न होना चाहिए। शास्त्र हर काम का होता है—खाना पकाने का, सफाई का, बढ़ई के काम का, कताई का। जो हरेक उद्योग विद्यार्थी की दृष्टि से चलाता है वह उसका शास्त्र जानता है या रचता है।

शिक्षा के लिए कोई खास समय ही हो सो बात नहीं है, बल्कि सारा समय शिक्षण-काल है। हर आदमी जो आत्म-दर्शन—सत्य दर्शन—के भाव से आश्रम में बसता है, वह शिक्षक है और विद्यार्थी है। जिस चीज में वह निपुण है उसके विषय में वह शिक्षक है, जो उसको सीखना है, उसके विषय में विद्यार्थी है। जिस विषय का हमें अपने पड़ोसी की अपेक्षा अधिक ज्ञान हो वह ज्ञान पड़ोसी को बिना किसी संकोच के देते ही रहें

* अपने आपको पहचानना

और जिसमें पड़ोसी को अधिक ज्ञान हो उसमें उससे बिना संकोच के लेते रहें। हम ऐसा किया करें तो हमें शिक्षकों का टोटा न पड़े और शिक्षण सहज और स्वाभाविक हो जाय। सबसे बड़ी शिक्षा चारित्र्य-शिक्षण है। ज्यों-ज्यों हम यम-नियमों के पालन में बढ़ते जाएंगे त्यों-त्यों हमारी विद्या---सत्य-दर्शन की शक्ति---बढ़ती ही जायगी।

: ३ :

अच्छा नियम

अमुक काम अच्छा है या बुरा, इस बारे में हम सदा मत प्रकट किया करते हैं। कुछ कामों से हमें संतोष मिलता है और कुछ हमारी अप्रसन्नता के कारण होते हैं। कार्य-विशेष के भले या बुरे होने का आधार इस बात पर नहीं होता कि वह काम हमारे लिए लाभदायक है या हानिकारक, पर उसकी तुलना करने में हम जुदे ही पैमाने से काम लिया करते हैं। हमारे मन में कुछ विचार रम रहे होते हैं, उन्हींके आधार पर हम दूसरे आदमियोंके कामोंकी परीक्षा किया करते हैं। एक आदमी ने दूसरे आदमी का कोई नुकसान किया हो तो उसका असर अपने ऊपर हो या न हो, उस काम को हम खराब मानते हैं। कितनी ही बार नुक़सान करनेवाले की ओर हमारी हमदर्दी हो तो भी उसका काम बुरा है, यह कहते हमें तनिक भी हिचक नहीं होती। यह भी हो सकता है कि कितनी ही बार हमारी राय गलत ठहरे। मनुष्यों

का हेतु हम सदा देख नहीं सकते। इससे हम गलत परीक्षा किया करते हैं। फिर भी हेतु के प्रमाण में काम की परीक्षा करने में बाधा नहीं होती। कुछ बुरे कामों से हमें लाभ होता है, फिर भी हम मन में तो समझते ही हैं कि वे बुरे हैं।

अतः यह सिद्ध हुआ कि किसी काम के भले या बुरे होने का आधार मनुष्य का स्वार्थ नहीं होता। उसकी इच्छाएं भी इसका आधार नहीं होतीं। नीति और मन की वृत्ति के बीच सदा सम्बन्ध देखने में नहीं आता। बच्चे पर ममता होने के कारण हम उसे कोई खास चीज देना चाहते हैं; पर वह वस्तु हानिकारक हो तो हम मानते हैं कि उसे देने में अनीति है। स्नेह दिखाना बेशक अच्छी बात है, पर नीति-विचार के द्वारा उसकी हद न बांध दी गई हो तो वह विषरूप हो जाता है।

हम यह भी देखते हैं कि नीति के नियम अचल हैं। मत बदला करते हैं, पर नीति नहीं बदलती। हमारी आंखें खुली हों तो हमें सूरज दिखाई देता है, बन्द हों तो नहीं दिखाई देता। इसमें हमारी निगाह में हेर-फेर हुआ, न कि सूरज के होने में। नीति के नियमों के बारे में भी यही समझना चाहिए। हो सकता है कि अज्ञान की दशा में हम नीति को न समझ सकें। जब हमारा ज्ञानचक्षु खुल जाता है तब हमें समझने में कठिनाई नहीं पड़ती। मनुष्य सदा भले की ओर ही निगाह रखे, ऐसा शायद ही होता है! इससे अक्सर स्वार्थ की दृष्टि से देखकर अनीति को नीति कहता है। ऐसा समय तो अभी आने को

हैं जब मनुष्य स्वार्थ का विचार त्याग कर नीति-विचार की ओर ही ध्यान देगा। नीति की शिक्षा अभी बिलकुल बचपन की अवस्था में है। बेकन और डार्विन* के पहले शास्त्र की जो स्थिति थी वही आज नीति की है। लोग सच्चा क्या है उसे देखने को उत्सुक थे। नीति के विषय को समझने के बदले वे पृथ्वी आदि के नियमों की खोज में लगे हुए थे। ऐसे कितने विद्वान् आपको दिखाई दिये हैं जिन्होंने लगन के साथ कष्ट सहकर पिछले वहमों को एक ओर रख कर नीति की खोज में जिन्दगी बिताई हो? जब प्राकृतिक रहस्यों की खोज करनेवाले आदमियों की तरह वे नीति की खोज करने में तल्लीन रहें तब हम यह मानें कि अब नीति-विषय के विचार इकट्ठे किये जा सकते हैं। शास्त्र या विज्ञान के विचारों के विषय में आज भी विद्वानों में जितना मतभेद रहता है उतना नीति के नियमों के विषय में होना मुमकिन नहीं। फिर भी हो सकता है कि कुछ अरसे तक हम नीति के नियमों के विषय में एक राय न रख सकें; पर उसका अर्थ यह नहीं है कि हम खरे-खोटे का भेद नहीं समझ सकते।

हमने देख लिया कि मनुष्यों की इच्छा से अलग नीति का कोई नियम है, जिसे हम नीति का नियम कह सकते हैं। जब राजनैतिक विषयों में हमें नियम-कानून की आवश्यकता है तब क्या हमें नीति के नियमों का प्रयोजन नहीं है, भले ही वह नियम मनुष्य लिखित न हों?

---

* बेकन इंग्लैंड का एक विचारक और डार्विन एक वैज्ञानिक था। डार्विन ने प्राणियों के विकास का सिद्धान्त निकाला है।

वह मनुष्य लिखित होना भी न चाहिए और अगर हम नीति-नियमों का अस्तित्व स्वीकार करें तो जैसे हमें राजनैतिक नियमों के अधीन रहना पड़ता है वैसे ही नीति के नियमों के अधीन रहना भी हमारा कर्त्तव्य है। नीति के नियम राजनैतिक और व्यावसायिक नियमों से अलग तथा उत्तम हैं। मुझसे या दूसरे किसी से यह नहीं बन सकता कि व्यावसायिक नियमों के अनुसार न चलकर मैं गरीब बना रहूं तो क्या हुआ ?

यों नीति के नियम और दुनियादारी के नियम के बीच भारी भेद है, क्योंकि नीति का वास हमारे हृदय में है। अनीति का आचरण करनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति कबूल करेगा—झूठा सच्चा कभी नहीं हो सकता। और जहां जन-समाज बहुत दुष्ट हो वहां भी लोग नीति के नियमों का पालन न करते हों तो भी पालन का ढोंग करेंगे, अर्थात् नीति का पालन कर्त्तव्य है, यह बात वैसे आदमियों को भी कबूल करनी पड़ती है। ऐसी नीति की महिमा है। इस प्रकारकी नीति रीति-रिवाज या लोकमत की परवाह नहीं करती। लोकमत या रीति-रिवाज जहां तक नीति के नियम का अनुसरण करता दिखाई दे वहीं तक नीतिवान् पुरुष को वह बन्धन-कारक है।

ऐसा नीति का नियम कहां से आया ? कोई राजा, बादशाह उसे गढ़ता नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न राज्यों में अलग-अलग कानून-कायदे देखने में आते हैं। सुकरात के जमाने में जिस नीति का अनुसरण वह करता था

बहुत से लोग उसके विरुद्ध थे, फिर भी सारी दुनिया कबूल करती है कि जो नीति उसकी थी वह सदा रही है और रहेगी। अंग्रेजी कवि राबर्ट ब्राउनिंग* कह गया है कि कभी कोई शैतान दुनिया में द्वेष और झूठ की दुहाई दे तो भी न्याय, भलाई और सत्य ईश्वरीय ही रहेंगे। इसपर से यह कह सकते हैं कि नीति के नियम सबसे ऊपर हैं और ईश्वरीय हैं।

ऐसे नियम का भंग कोई प्रजा या मनुष्य तक नहीं कर सकता। कहा है कि जैसे भयानक बवंडर अन्त में उड़ जाता है वैसे ही अनीतिमान् पुरुष का भी नाश होता है। असीरिया और बेबीलोन में अनीति का घड़ा भरा नहीं कि तत्काल फूट गया। रोम ने जब अनीति का रास्ता पकड़ा तब उसके महान् पुरुष उसका बचाव न कर सके। ग्रीस की जनता बुद्धिमान् थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीति को टिका न सकी। फ्रांस में विप्लव हुआ, वह भी अनीति के ही विरोध में। वैसे ही अमरीका में भला वेंडल फिलिप्स कहता है कि अनीति राजगद्दी पर बैठी हो तो भी टिकने की नहीं। नीति के इस अद्‌भुत नियम का जो मनुष्य पालन करता है वह ऊपर उठता है, जो कुटुम्ब पालन करता है, वह बना रह सकता है और जिस समाज में उसका पालन होता है उसकी वृद्धि होती है। जो प्रजा इस उत्तम नियम का पालन करती है वह सुख, स्वतन्त्रता और शांति को भोगती है।

---

*उन्नीसवीं शताब्दी का प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि, १८१२-१८८९।

: ४ :

नम्रता

नम्रता अभ्यास से प्राप्त नहीं होती। वह स्वभाव में ही आ जानी चाहिए। सत्य का अभ्यास किया जा सकता है, दया का अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु नम्रता के सम्बन्ध में कहना चाहिए कि उसका अभ्यास करना दंभ का अभ्यास करना है। यहां नम्रता से तात्पर्य उस वस्तु से नहीं है जो बड़े आदमियों में एक-दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई बाहर से दूसरे को साष्टांग नमस्कार करता हो, पर मन में उसके संबंध में तिरस्कार भरा हुआ हो तो यह नम्रता नहीं, पाखंड है। कोई रामनाम जपता रहे, माला फेरे, मुनी-सरीखा बनकर समाज में बैठे; पर भीतर स्वार्थ भरा हो तो वह नम्र नहीं, पाखंडी है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र है। सत्यादि का नाप हम अपने पास रख सकते हैं, पर नम्रता का नहीं। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती, फिर भी नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वसिष्ठ-विश्वामित्र का उदाहरण तो हम लोगों ने अनेक बार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यता तक पहुंच जानी चाहिए। हम कुछ हैं, यह भूत मन में घुसा कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टी में मिल गये। व्रत-पालन करनेवाला यदि मन में अपने व्रत-पालन का गर्व रखे तो व्रतों का मूल्य खो देगा और समाज में विषरूप हो जायगा। उसके व्रत का मूल्य न समाज ही

करेगा, न वह खुद ही उसका फल भोग सकेगा। नम्रता का अर्थ है अहंभाव का अधिकतम क्षय। विचार करने पर मालूम हो सकता है कि इस संसार में जीवमात्र एक रजकण की अपेक्षा अधिक कुछ नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षणजीवी हैं। काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता; परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायं अर्थात् कुछ नहीं हो जायं, तो हम सबकुछ हो जायं। होने का अर्थ है ईश्वर से—परमात्मा से, सत्य से—पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना, परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहनेवाला बिंदु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है, परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर ज्योंही अपनेपन का दावा करने चला कि वह उसी क्षण सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है, इसमें मुझे जरा भी अतिशयोक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता—शून्यता—अभ्यास में कैसे आ सकती है? पर व्रतों को सही रीति से समझ लेने से नम्रता अपने-आप आने लगती है। सत्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाला अहंकारी कैसे हो सकता है? दूसरे के लिए प्राण न्योछावर करनेवाला अपना स्थान कहां घेरने जायेगा? उसने तो जब प्राण न्योछावर करने का निश्चय किया तभी अपनी देह को फेंक दिया। क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थ-रहितता न कहलायेगी? हिन्दू-धर्म में ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है और इससे बहुत जगह

आलस्य को, पाखंड को, स्थान मिल गया है। वास्तव में नम्रता का अर्थ तीव्रतम पुरुषार्थ है; परन्तु वह सब परमार्थ के लिए होना चाहिए। ईश्वर स्वयं चौबीसों घंटे एक सांस काम करता रहता है। अंगड़ाई लेने तक का अवकाश नहीं लेता। हम उसके हो जायं, उसमें मिल जायं तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही आलस्यरहित हो गया—हो जाना चाहिए। समुद्र से अलग हो जानेवाले बिंदु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं; परन्तु समुद्र में रहनेवाले बिंदु के लिए आराम कहां ? समुद्र को एक क्षण के लिए भी आराम कहां मिलता है ? ठीक यही बात हमारे सम्बन्ध में है। ईश्वररूपी समुद्र में हम मिले और हमारा आराम गया, आराम की आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है। यह महा अशान्ति में शान्ति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे जीवमात्र की सेवा के लिए सबकुछ अर्पण की आशा रखती है। सबसे निवृत्त हो जाने पर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार। इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है, परन्तु अनुभव से ही उसे जाना जा सकता है। जिसने सबकुछ अर्पण किया है उसने इसका अनुभव किया है। हम सब अनुभव कर सकते हैं। सब व्रत, सब प्रवृत्तियां, यह अनुभव करने के लिए ही हैं।

: ५ :

सत्य और अहिंसा का पालन

अहिंसा के पालन का जिसको उत्साह हो वह अपने

अन्तर में और अपने पड़ोसियों को देखे। अगर उसके मन में द्वेष भरा हो तो समझे कि वह अहिंसा की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ा। अपने पड़ोसी, साथी के साथ वह अहिंसा का पालन न करता हो तो वह अहिंसा से हजारों कोस दूर है।

इसलिए रोज सोते समय वह अपने आपसे पूछे कि आज मैंने अपने साथी का तिरस्कार किया? उसको खराब खादी देकर खुद अच्छी ली? उसे कच्ची रोटी देकर खुद पकी हुई ली? अपने काम में चोरी करके साथी के ऊपर बोझ डाला? आज मेरा पड़ोसी बीमार था, उसकी तीमारदारी करने न गया! प्यासे बटोहियों ने मुझसे पानी मांगा, मैंने न दिया! मेहमान आये उनका नमस्कार से भी सत्कार न किया! मजदूर का तिरस्कार किया, उसके ऊपर बिना विचारे काम लादता रहा! बैल को पैना मारता रहा! रसोई में भात कच्चा था इससे खीझा! ये सारी बातें भारी हिंसा हैं। इस तरह नित्य के व्यवहार में हम स्वाभाविक रीति से अहिंसा का पालन न करें तो दूसरे विषयों में हम अहिंसा का पालन करने लायक ही न होंगे, या दूसरी बातों में उसका पालन करते हों तो उसकी कीमत बहुत कम होगी या कुछ भी न होगी। अहिंसा प्रतिक्षण काम करनेवाली प्रचंड शक्ति है। उसकी परीक्षा हमारे प्रतिक्षण के कार्य में, प्रतिक्षण के विचार में, हो रही है। जो कौड़ी* की फिक्र

---

* कौड़ी अर्थात् छोटी-से-छोटी वस्तु।

करेगा उसकी कोड़ी* सलामत ही है; पर जिसने कौड़ी की परवा नहीं की उसने कौड़ी भी खोई और कोड़ी तो उसकी थी ही नहीं।

जो बात अहिंसा की है वही सत्य की समझिये। गाय को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है या नहीं, इस उलझन में पड़कर अपनी नजर के नीचे जो रोज हो रहा है उसको भूल जायं तो सत्य की साधना न हो सकेगी। यों गहरे पानी में पैठना सत्य को ढांपने का रास्ता है। तत्काल जो समस्याएं रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं उनमें हम सत्य का पालन करें तो कठिन अवसरों पर क्या करना होगा, इसका ज्ञान हमें अपने-आप हो जायगा।

इस दृष्टि से हममें से हरेक को केवल अपने-आपको ही देखना है। अपने विचार से मैं किसी को ठगता हूं? अगर मैं 'ब' को खराब मानता हूं और उसको बताता हूं कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूं। बड़ा या भला कहलाने की इच्छा से जो गुण मुझमें नहीं हैं उन्हें दिखाने की कोशिश करता हूं? बोलने में अतिशयोक्ति करता हूं? किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिए उससे छिपाता हूं? मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाब में बात को उड़ा देता हूं। जो कहना चाहिए उसे छिपाता हूं? इनमें से कुछ भी करते हैं तो हम असत्य का आचरण करते हैं। यों हरेक को रोज अपने आपसे हिसाब लेकर अपने

* कोड़ी अर्थात् बीस, यानी बड़ी-से-बड़ी वस्तु।

आपको सुधारना चाहिए। जिसको सच बोलने की ही आदत पड़ गई हो, ऐसी स्थिति हो गई हो कि असत्य मुंह से निकल ही नहीं सके, वह भले ही अपने आपसे रोज हिसाब न मांगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्य का आचरण कर सकता हो उसे तो ऊपर बताई हुई रीति से यही या इस तरह के जितने सूझें उतने सवालों का जवाब रोज अपने आपको देना चाहिए। यों जो एक महीना भी करेगा उसे अपने आपमें हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देगा।

: ६ :

प्रार्थना

प्रार्थना मन लगाकर न हो तो सब मिथ्या समझिए। भोजन करते समय आम तौर से हम किसी को सोता हुआ नहीं देखते। प्रार्थना भोजन से करोड़ गुनी अधिक उपयोगी वस्तु है। इस समय कोई सोए तो यह बहुत दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दुःख होना चाहिए। खाना छूटे; पर प्रार्थना न छूटे। खाना छोड़ना कितनी ही बार शरीर के लिए लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी लाभदायक हो ही नहीं सकता।

पर जो आदमी प्रार्थना में सोता हो, आलस्य करता हो, बातें करता हो, ध्यान न रखता हो, विचार को जहां-तहां भटकने देता हो, उसने प्रार्थना छोड़ दी, यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीर से हाजिरी दी, उसकी

गिनती दंभ में होगी । अर्थात् उसने दुहरा दोष किया : प्रार्थना छोड़ी और समाज को ठगा । ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रत का भंग ।

पर हमारे न चाहने पर भी नींद आये, आलस्य लगे तो क्या करना होगा ? ऐसी बात होती ही नहीं । अगर हम खाट से उठ कर सीधे प्रार्थना में जायं तब तो वहां ऊंघेंगे ही । प्रार्थना में जाने के पहले जाग्रत हो जाने, दातुन करने और ताजा रहने का निश्चय करना चाहिए । प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर न बैठना चाहिए । सोंटे की तरह सीधा बैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊंची आवाज से, नहीं तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए ।

मुझे जान पड़ता है कि सामाजिक प्रार्थना में जो रस पैदा नहीं होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान है । सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना में से ही हुई है । व्यक्ति को प्रार्थना की भूख न हो तो समाज को कहां से हो सकती है ? सामाजिक प्रार्थना का उपयोग भी व्यक्ति के लाभ के लिए है । व्यक्ति के आत्मदर्शन में—आत्मशुद्धि में—सामाजिक प्रार्थना सहायक होती है, इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य सबको समझ लेना चाहिए । बच्चा ज्योंही समझने लगे, माता को चाहिए कि तुरन्त उसे प्रार्थना सिखा दे । सब धर्मों में यह सामान्य वस्तु है ।

इस प्रार्थना के दो समय तो पक्के हैं : सवेरे उठते ही

अन्तर्यामी को याद करना और रात में आंख मूंदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जाग्रत स्त्री-पुरुष सब कामों के करने में अन्तर्यामी को याद करेंगे और साक्षी रखेंगे। ऐसा करनेवाले से बुरा काम तो होगा ही नहीं और अन्त में उसकी ऐसी आदत पड़ जायगी कि हर विचार का ईश्वर को साक्षी रखेगा और स्वामी बनायेगा। यह शून्यवत् हो जाने की स्थिति है, यों जिसके सामने हर वक्त ईश्वर रहता है उसके हृदय में निरन्तर राम बसते हैं।

ऐसी प्रार्थना के लिए खास मंत्र या भजनकी जरूरत नहीं होती। यद्यपि प्रत्येक क्रिया के आरम्भ और अन्त के लिए मंत्र देखने में आते हैं, पर उनकी आवश्यकता नहीं है। चाहे जिस नाम से, चाहे जिस रीति से, चाहे जिस स्थिति में भगवान् को याद करना है। ऐसा करने की आदत बहुत थोड़ों को ही होती है। बहुतों को हो तो दुनिया में पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपस का व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थिति को पहुंचने के लिए हर आदमी को जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिएं, दूसरे वक्त भी खुद बांध लें और नित्य उसमें वृद्धि करते जायं, जिससे अन्त में हर सांस से रामनाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थना में वक्त बिलकुल नहीं जाता। उसमें वक्त की नहीं, सचेत रहने की जरूरत है। जैसे आंख मूंदने में समय जाता नहीं जान पड़ता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थना में भी वह जाता नहीं

मालूम होता। जैसे पलकें अपना काम करती हैं, यह हम जानते हैं, वैसे ही प्रार्थना हृदय में चलनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना करनेवाले को याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनता को बनाये रख कर प्रार्थना नहीं कर सकता। अर्थात् प्रार्थना के समय उसको मलिनता का त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गन्दा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वर के सामने भी गन्दा, बुरा काम करते हुए उसे शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर काम को देखता है, हर विचार को जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब उससे छिपाकर कोई काव्य या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त में ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

: ७ :

सच्ची सभ्यता

हिन्दुस्तान ने जिस सभ्यता का नमूना दुनिया के सामने पेश किया है दुनिया की कोई भी सभ्यता उसका मुकाबला नहीं कर सकती। जो बीज हमारे पुरखों ने बोया उसकी बराबरी कर सकनेवाली कोई भी चीज मेरे देखने में नहीं आई। रोम मिट्टी में मिल गया। यूनान का नाम भर रह गया। मिस्र के फरऊनों* की बादशाही बिदा हो गई। जापान पश्चिम का चेला बन गया।

* मिस्र के प्राचीन राजवंश का नाम।

चीन की कथा तो कहने ही लायक नहीं; पर हिन्दुस्तान ठोकर खाकर गिर गया है, फिर भी अभी उसकी जड़ मजबूत है।

रोम और यूनान आज अवनति के गढ़े में गिरे हुए हैं, फिर भी यूरोप के लोग उन्हींकी पुस्तकों से ज्ञान लेते हैं। वे सोचते हैं कि रोम-यूनान ने जो गलतियां कीं उनसे हम बच जायंगे। जब उनकी ऐसीहीन दशाहै, हिन्दुस्तान अपनी जगह पर अचल है। यही उसका गौरव है।

सभ्यता तो आचार-व्यवहार की वह रीति है जिससे मनुष्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करे। कर्त्तव्य-पालन और नीति-पालन एक ही चीज है। नीति-पालन का अर्थ है अपने मन और अपनी इंद्रियों को वश में रखना। यह करते हुए हम अपने आपको पहचानते हैं। यही 'सुधार' यानी सभ्यता है। जो कुछ इसके विरुद्ध है वह 'कुधार'—असभ्यता है।

मनुष्य की वृत्तियां चंचल हैं। उसका मन यहां से वहां भटकता रहता है। शरीर का यह हाल है कि उसे जितना दो, उतना ही और मांगता है। अधिक पाकर भी सुखी नहीं होता। इससे हमारे पुरखों ने उसकी हद बांध दी है। बहुत सोच-विचार के बाद वे इस नतीजे पर पहुंचे कि सुख-दुःख का कारण हमारा मन है। अमीर न अमीर होने के कारण सुखी होता है और न गरीब गरीब होने की वजह से दुःखी होता है। अक्सर अमीर दुःखी और गरीब सुखी दिखाई देता है। फिर करोड़ों आदमियों को तो गरीब ही रहना है। यही देखकर हमारे बुजुर्गों ने

हमें भोग की वासना से मुक्त करने की कोशिश की। हजारों साल पहले जिस हल से हमने काम लिया उसीसे आजतक काम चलाते रहे। हजारों वरस पहले जैसे झोंपड़ों में हमने गुजर की वैसे ही झोंपड़े अबतक बनाते रहे। पढ़ाई-लिखाई का भी वही हजारों बरस पहले का ढर्रा चलता रहा। सब अपना-अपना धंधा करते और बंधे हिसाब से पैसा लेते रहे। हमें नये-नये कल-पुरजे बनाना न आता हो सो बात नहीं थी; पर हमारे पुरखों ने देखा कि मनुष्य यंत्रों के जाल में फंसा तो उसका गुलाम ही बन जायगा और नीति से हाथ धो बैठेगा। इसलिए उन्होंने सोच-विचार कर कहा कि तुम्हारे हाथ-पांव से जितना हो सके उतना ही करो। हाथ-पैर से काम लेने में ही सच्चा सुख और स्वास्थ्य है।

उन्होंने यह भी सोचा कि बड़े-बड़े शहर बसाना बेकार का झंझट है। उनमें रह कर लोग सुखी न होंगे। वहां तो चोर-डाकुओं के दल जुड़ेंगे, पैसेवाले गरीबों को चूसेंगे। अतः उन्होंने छोटे-छोटे गांवों से ही संतोष किया। उन्होंने देखा कि राजाओं और उनकी तलवारों से नीति-धर्म का बल अधिक बलवान है। इसलिए उन्होंने नीतिवान पुरुषों, ऋषि-मुनियों और साधु-सन्तों से राजा का दरजा छोटा माना। जिस राष्ट्र का विधान ऐसा हो वह दूसरों को सिखाने का अधिकारी है, उनसे सीखने का नहीं।

हमारे यहां अदालतें थीं, वकील थे, वैद्य-हकीम थे। पर सबको बंधे नियमों के अन्दर रहना पड़ता था।

सभी जानते थे कि ये धंधे कुछ और धंधों से ऊंचे नहीं हैं। फिर वकील, वैद्य आदि लोगों को लूटते नहीं थे। ये लोग तो जन-समाज पर आश्रित थे, उसके मालिक बन कर नहीं रहते थे। न्याय प्रायः सच्चा ही होता था। अदालत न जाना ही साधारण नियम था। उन्हें बहकाने के लिए दलाल भी नहीं थे। इन बुराइयों के दर्शन तो राज-दरबारों और राजधानियों में ही होते थे। आम लोग तो दूसरे ढंग से रहते और अपने खेती-किसानी करते थे। उनके लिए तो सच्चा स्वराज्य था।

किसी भी देश और किसी भी सभ्यता में सब लोग सम्पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकें। भारतीय सभ्यता का झुकाव नीति को दृढ़ करने की ओर है। पश्चिमी सभ्यता का अनीतिको दृढ़ करने की ओर। पश्चिम की सभ्यता नास्तिक, निरीश्वरवादी है, भारत की सभ्यता ईश्वर को माननेवाली है।

: ८ :

नीतियुक्त काम

क्या हम यह कह सकते हैं कि अमुक काम नीतियुक्त है? यह सवाल करने में नीतिवाले और बिना नीति के कामों की तुलना करने का हेतु नहीं है, बल्कि जिन कामों के खिलाफ लोग कुछ कहते नहीं और कितने ही जिन्हें नीतियुक्त मानते हैं उनके विषय में विचार करना है। हमारे बहुतेरे कामों में खास तौर से नीति का समावेश नहीं होता। अधिकतर हम लोग साधारण रीति-रिवाज

के अनुसार आचरण करते हैं। इस तरह रूढ़ि के अनुसार चलना बहुत समय आवश्यक होता है। वैसे नियमों का अनुसरण हम न करें तो अंधाधुंधी होने लगे और दुनिया का कार-बार बन्द हो जाय, पर यों रूढ़ि के पीछे चलने को नीति का नाम देना मुनासिब नहीं कहा जा सकता।

नीतियुक्त काम तो वह कहा जाना चाहिए जो हमारा अपना है यानी जो हमारी इच्छा से किया गया हो। जबतक हम मशीन के पुर्जे की तरह काम करते हों तबतक हमारे काम में नीति का प्रवेश नहीं होता। मशीन के पुर्जे की तरह काम करना हमारा फर्ज हो और हम करें तो यह विचार नीतियुक्त है, क्योंकि हम उसमें विवेक-बुद्धि से काम लेते हैं। यह यांत्रिक काम और वह काम करने का विचार करना, इन दोनों में जो भेद है वह ध्यान में रखने योग्य है। राजा किसी का अपराध माफ करदे तो उसका यह काम नीतियुक्त हो सकता है; पर माफी की चिट्ठी ले जानेवाले चपरासी का राजा के किये हुए नीतिमय कार्य में यांत्रिक भाग है। हां, चपरासी यह समझ कर चिट्ठी ले जाय कि चिट्ठी ले जाना उसका फर्ज है तो उसका काम नीतियुक्त हो सकता है। जो आदमी अपनी बुद्धि और दिमाग से काम नहीं लेता और जैसे लकड़ी बहती है वैसे प्रवाह में बहता जाता है वह नीति को कैसे समझेगा? कितनी ही बार मनुष्य रूढ़ि के विरुद्ध होकर परमार्थ करने के इरादे से कर्म करता है। महावीर वेंडल फिलिप्स* ऐसा ही पुरुष था। उसने एक

* अमरीका का प्रसिद्ध वक्ता और सुधारक। गुलामी दूर करने के लिए

बार लोगों के सामने भाषण करते हुए कहा था, "जबतक तुम लोग खुद विचार करना और उसे प्रकट करना नहीं सीख लेते तबतक मेरे बारे में तुम क्या सोचते हो, इसकी मुझे चिन्ता नहीं है।" यह स्थिति हमें तबतक प्राप्त नहीं होने की, जबतक हम यह मानने और अनुभव न करने लगें कि सबका अन्तर्यामी ईश्वर हम सबके कार्य का साक्षी है।

इस तरह किया हुआ काम स्वतः अच्छा हो इतना ही काफी नहीं है, वह काम हमने अच्छा करने के इरादे से किया हो, यह भी जरूरी है। अर्थात् कार्य-विशेष में नीति होना न होना, करने वाले के इरादे पर अवलम्बित होता है। दो आदमियों ने एक ही काम किया हो, फिर भी एक का काम नीतियुक्त माना जा सकता है, दूसरे का नीतिरहित। जैसे एक आदमी दया से द्रवित होकर गरीबों को खाना देता है। दूसरा मान प्राप्त करने या इस तरह के स्वार्थी विचार से वही काम करता है। दोनों का काम एक ही है, फिर भी पहले का काम नीतियुक्त माना जायगा और दूसरे का नीतिरहित। नीतियुक्त और नीतिरहित शब्दों के बीच जो अन्तर है, वह यहां पाठकों को याद रखना है। यह भी हो सकता है कि नीतियुक्त काम का असर अच्छा हुआ, यह सदा दिखाई न दे सके। नीति के विषय में विचार करते हुए हमें इतना ही देखना है कि किया हुआ काम शुभ है और शुद्ध हेतु से किया गया है। उसके फल पर हमारा बस

अमरीका में जो आन्दोलन हुआ था उसमें इसने सक्रिय भाग लिया था।

नहीं । फल देनेवाला तो एकमात्र ईश्वर है । शाहंशाह सिकन्दर* को इतिहासकारों ने महान् माना है । वह जहां-जहां गया वहां यूनानी शिक्षा, शिल्प-प्रथाओं आदि को प्रचलित किया और उसका फल हम स्वाद से चख रहे हैं । पर यह सब करने का उद्देश्य बड़प्पन पाना था, अतः कौन कह सकेगा कि उसके कामों में नीति थी ? वह महान् भले ही कहलाया, पर नीतिमान नहीं कहा जा सकता ।

ऊपर प्रकट किये गए विचारों से साबित होता है कि प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि वह बिना दबाव के भी किया हुआ होना चाहिए । मैं दफ्तर देर से पहुंचूं तो नौकरी से हाथ धोऊंगा, इस डर से मैं तड़के उठूं तो इसमें रत्तीभर भी नीति नहीं है । इसी तरह मेरे पास पैसा न हो, इसलिए मैं गरीबी और सादगी की जिन्दगी बिताऊं तो इसमें भी नीति का योग नहीं है, पर मैं धनवान होते हुए भी सोचूं कि मैं अपने आसपास दरिद्रता और दुःख देख रहा हूं, ऐसे समय मुझसे ऐश-आराम कैसे भोगा जा सकता है, मुझे भी गरीबी में और सादगी के साथ रहना ही चाहिए तो इस प्रकार अपनाई हुई सादगी नीतिमय मानी जायगी । इसी तरह नौकर छोड़कर भाग जायंगे, इस डर से उनके साथ हमदर्दी दिखाई जाय या उन्हें अच्छी या अधिक तनख्वाह दी जाय तो इसमें नीति नहीं रहती, बल्कि इसका नाम स्वार्थबुद्धि

* यूनान का एक बहुत बड़ा सम्राट् ।

है। मैं उनका भला चाहूँ, मेरी समृद्धि में उनका हिस्सा है, यह समझकर उन्हें रखूं तो इसमें नीति हो सकती है, अर्थात् नीतिपूर्वक किया हुआ काम वह होगा जो जोर-जबर्दस्ती से या डरकर न किया गया हो। इंग्लैंड के राजा दूसरे रिचर्ड[1] के पास जब आंखें लाल किये हुए किसानों का समुदाय अनेक अधिकार मांगने पहुंचा तो उसने अपने हाथ से अधिकार-पत्र लिख कर उसके हवाले कर दिया, पर जब किसानों का डर दूर हो गया तब उस फरमान को उसने जोर-जुल्म से वापस ले लिया। अब कोई कहे कि रिचर्ड का पहला काम नीतियुक्त और दूसरा अनीतियुक्त था तो यह उसकी भूल है। रिचर्ड का पहला काम केवल भय से किया गया था, इसलिए उसमें नीति छू तक नहीं गई थी।

जैसे नीतियुक्त काम में डर या जोर-जबर्दस्ती न होनी चाहिए वैसे ही उसमें स्वार्थ भी न होना चाहिए। ऐसा कहने में यह हेतु नहीं है कि जिस काम में स्वार्थ हो वह बुरा है; पर उस काम को नीतियुक्त कहें तो यह नीति को धब्बा लगाने के समान है। ईमानदारी अच्छी व्यवहारनीति है, यह सोचकर अपनाई हुई ईमानदारी अधिक दिन नहीं टिक सकती। शेक्स-पियर[2] कहता है कि जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं।

जैसे इस लोक में लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम

---

१. जन्म १३६७, मृत्यु १४००
२. अंग्रेजी का प्रसिद्ध कवि और नाटककार।

नीतियुक्त नहीं माना जा सकता वैसे ही परलोक में लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए ही करनी है, यों समझ कर किया हुआ काम नीतिमय माना जायगा। महान् जेवियर[1] ने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे। उसके मत से भगवान् की भक्ति इसलिए नहीं करनी थी कि मरने के बाद उत्तम दशा भोगने को मिले, वह भक्ति इसलिए करता था कि वह मनुष्य का कर्त्तव्य है। महान् भगवद्भक्त थेरिसा अपने दाहिने हाथ में मशाल और बाएं हाथ में पानी की बाल्टी यह जताने के लिए रखना चाहती थी कि मशाल से स्वर्ग के सुख को जला डाले और पानी से दोज़ख[2] की आग बुझा दे, जिससे इन्सान दोज़ख के भय के बिना खुदा की इबादत करे। इस तरह की नीति का पालन उस आदमी का काम है जो सिर पर कफन बांधे फिरता हो। मित्र के साथ तो सच्चे रहना और दुश्मन से दगाबाजी करना नामर्दी का काम है। डर-डर कर भले काम करनेवाला नीतिरहित ही माना जायगा। हेनरी क्लेबक दयालु और स्नेहभरे स्वभाव का माना जाता था। उसने अपने लोभ के आगे अपनी नीति की बलि दे दी। डेनियल वेस्टर वीर पुरुष था; पर पैसे के लिए एक बार वह कातर हो गया और एक हल्के काम से अपने दूसरे अच्छे कामों को धो डाला। इस उदाहरण से हम देख सकते हैं कि मनुष्य की नीति की परीक्षा करना

---

१. स्पेन का ईसाई धर्म प्रचारक जो भारत भी आया था। २. नर्क।

कठिन है, क्योंकि उसके मन की परख हम नहीं कर सकते ।

: ९ :

गीता-माता

गीता शास्त्रों का दोहन है । मैंने कहीं पढ़ा था कि सारे उपनिषदों का निचोड़ उसके ७०० श्लोकों में आ जाता है । इसलिए मैंने निश्चय किया है कि कुछ न हो सके तो भी गीता का ज्ञान प्राप्त कर लूं । आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है । मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर संकट के समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख गया हूं । मैंने देखा है कि जो कोई इस माता की शरण जाता है, उसे ज्ञान-अमृत से वह तृप्त करती है ।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो महागूढ़ ग्रंथ है । स्वर्गीय लोकमान्य तिलक* ने अनेक ग्रंथों का मनन करके पंडित की दृष्टि से उसका अभ्यास किया और उसके गूढ़ अर्थों को वे प्रकाश में लाये । उस पर एक महाभाष्य की रचना भी की । तिलकमहाराज के लिए यह गूढ़ ग्रंथ था; पर हमारे जैसे साधारण मनुष्य के लिए वह गूढ़ नहीं है । सारी गीता का वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहले तीन अध्याय पढ़ लें । गीता का सब

---

*स्वराज्य आंदोलन के सबसे पहले नेता लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, जिन्होंने सर्वप्रथम घोषित किया था—"स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है ।"

सार इन तीन अध्यायों में आ जाता है। बाकी के अध्यायों में वही बात अधिक विस्तार से और अनेक दृष्टियों से सिद्ध की गई है। यह भी किसी को कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायों में से कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते हैं जिनमें गीता का निचोड़ आ जाता है। तीन जगहों पर तो गीता में यह भी आता है कि सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है ? जो मनुष्य गीता में से अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमें से वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है, वह हमेशा आनन्द में रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नहीं, बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिए। अबतक मैं एक भी ऐसे आदमी को नहीं जानता जिसने गीता का एकनिष्ठ भक्ति से सेवन किया हो और जिसे गीता से आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कहीं परीक्षा में फेल हो जाते हो तो निराशा के सागर में डूब जाते हो। गीता निराश होनेवालों को पुरुषार्थ सिखाती है, आलस्य और व्यभिचार का त्याग बताती है। एक वस्तु का ध्यान करना, दूसरी चीज बोलना और तीसरी को सुनना इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हो या फेल, दोनों चीजें समान हैं। मनुष्य को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नहीं। यह आश्वासन मुझे कोई नहीं दे सकता। वह तो अनन्य

भक्ति से ही प्राप्त होता है। सत्याग्रही की हैसियत से मैं कह सकता हूं कि इसमें से नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। इसलिए सब विद्यार्थियों से मैं कहूंगा कि सवेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदास* का मैं भक्त हूं; पर तुम लोगों को इस समय मैं तुलसीदास नहीं सुझाता हूं। विद्यार्थी की हैसियत से तो तुम गीता का ही अभ्यास करो; पर द्वेष-भाव से नहीं, भक्ति-भाव से। तुम उसमें भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हें चाहिए वह उसमें से मिलेगा। अठारहों अध्याय कंठ करना कोई खेल नहीं है, पर करने जैसी चीज तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनोंदिन उसमें तुम्हारा अनुराग बढ़ेगा। फिर तुम जेल में हो या जंगल में, आकाश में हो या अंधेरी कोठरी में, गीता का रटन तो निरन्तर तुम्हारे हृदय में चलता ही रहेगा और उसमें से तुम्हें आश्वासन मिलेगा। तुमसे यह आधार तो कोई छीन ही नहीं सकता। इसके रटन में जिसका प्राण जायगा उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है, केवल निर्वाण नहीं, बल्कि ब्रह्म निर्वाण है।

: १० :

रामनाम

राम-नाम सिर्फ थोड़े-से खास आदमियों के लिए नहीं है, सबके लिए है। जो उसका नाम लेता है, वह अपने लिए भारी खजाना जमा करता जाता है। और यह तो

* श्रीरामचन्द्रजी के परम भक्त और रामायण के रचयिता।

एक ऐसा खज़ाना है जो कभी कम नहीं होता। जितना इसमें से निकालो,उतना बढ़ता ही जाता है। इसका अन्त ही नहीं। और जैसे कि उपनिषद्* कहता है—"पूर्ण में से पूर्ण निकालो तो पूर्ण ही बाकी रह जाता है," वैसे ही राम-नाम तमाम बीमारियों का एक शर्तिया इलाज है, फिर चाहे वे शारीरिक हों, मानसिक हों या आध्यात्मिक। रामनाम ईश्वर के कई नामों में से एक है। सच्ची बात तो यह है कि दुनिया में जितने इन्सान हैं उतने ही ईश्वर के नाम हैं। आप राम की जगह कृष्ण कहें या ईश्वर के अनगिनत नामों से कोई और नाम लें तो उससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। अन्धेरे में मुझे भूत-प्रेत का डर लगा करता था। मेरी आया ने मुझसे कहा था—"अगर तुम राम-नाम लोगे तो तमाम भूत-प्रेत भाग जायंगे।" मैं तो बच्चा ही था। लेकिन आया की बात पर मेरी श्रद्धा थी। मैंने उसकी सलाह पर पूरा-पूरा अमल किया। इससे मेरा डर भाग गया। अगर एक बच्चे का यह तजरबा है तो सोचिये कि बड़े आदमियों के बुद्धि और श्रद्धा के साथ राम-नाम लेने से उन्हें कितना फायदा हो सकता है।

लेकिन शर्त यह है कि रामनाम दिल से निकले। क्या बुरे विचार आपके मन में आते हैं? क्या काम या लोभ आपको सताते हैं? अगर ऐसा है तो रामनाम जैसा कोई भी जादू नहीं। और उन्होंने अपना मतलब एक मिसाल देकर समझाया, फर्ज कीजिये कि आपके मनमें

---

* वेदों का वह भाग जिसमें आत्मा, जीव, जगत् आदि की चर्चा है। इसे वेदों का ज्ञान-विभाग कहते हैं।

यह लालच पैदा होता है कि बगैर मेहनत किये, बेईमानी के तरीके से, आप लाखों कमालें। लेकिन अगर आपको रामनाम पर श्रद्धा है तो आप सोचेंगे कि बीबी-बच्चों के लिए आप ऐसी दौलत क्यों इकट्ठा करें जिसे वे शायद उड़ा दें? अच्छे चाल-चलन और अच्छी तालीम व परवरिश के रूप में उनके लिए ऐसी विरासत क्यों न छोड़ जायं, जिससे वे ईमानदारी और मेहनत के साथ अपनी रोटी कमा सकें? आप यह सब सोचते तो हैं, लेकिन कर नहीं पाते। मगर राम-नाम का निरन्तर जाप चलता रहे तो एक दिन वह आपके कंठ से हृदय तक उतर आयगा और रामबाण चीज साबित होगा। वह आपके सब भ्रम मिटा देगा, आपके झूठे मोह और अज्ञान को छुड़ा देगा। तब आप समझ जायंगे कि आप कितने पागल थे, जो अपने बाल-बच्चों के लिए करोड़ों की इच्छा करते थे, बजाय इसके कि उन्हें रामनाम का वह खजाना देते, जिसकी कीमत कोई पा नहीं सकता, जो हमें भटकने नहीं देता, जो मुक्तिदाता है। आप खुशी से फूले नहीं समायेंगे।

: ११ :

शरीर-श्रम

शरीर-श्रम के सब मनुष्यों के लिए अनिवार्य होने की बात पहले-पहल टाल्स्टाय के एक निबन्ध से मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के

पहले, रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट'[१] पढ़ने के बाद फौरन ही उसपर मैं अमल तो करने लगा था। शरीर-श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है। 'ब्रेड-लेबर' का शब्दशः अनुवाद है 'रोटी (के लिए)-श्रम।' रोटी के लिए हर आदमी को मजदूरी करना, हाथ-पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है, यह मूल खोज टाल्स्टाय[२] की नहीं, पर उसकी अपेक्षा विशेष अपरिचित रूसी लेखक बुर्नोह की है। टाल्स्टाय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मेरी आंखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में पा रही हैं। यज्ञ किए बिना खानेवाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है। यहां यज्ञ का अर्थ शरीर-श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। जो हो, हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। मजदूरी न करनेवाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है? बाइबिल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।" करोड़पति भी यदि अपने पलंग पर पड़ा रहे और मुंह में किसी के खाना डाल देने पर खाये तो बहुत दिनों तक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनन्द भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न

---

१ रस्किन एक विचारक और अंग्रेजी का लेखक हुआ है, जिसकी 'अन्टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक का गांधीजी पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक का गांधीजी ने 'सर्वोदय' के नाम से अनुवाद किया।

२ रूस का प्रसिद्ध विद्वान्।

करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर। तो फिर यह प्रश्न अपने आप उठता है कि यदि इस तरह किसी-न-किसी रूप में राजा-रंक सभी को अंग-संचालन करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें ? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता है। और संसार के सैकड़े पीछे नव्वे से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसार में कितना सुख, कितनी शान्ति और कितना आरोग्य फैले ? यदि खेती के साथ बुद्धि का मेल हो जाय तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयां सहज में दूर हो जायं। इसके सिवा यदि शरीर-श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी मानने लगें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहां उच्चता की गन्ध भी न थी वहां भी, अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में भी, वह घुस गई है। मालिक-मजदूर का भेद सर्वव्यापक हो गया है और गरीब अमीर से ईर्ष्या करने लगा है। यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मेहनत करें तो ऊंच-नीच का भेद दूर हो जाय और फिर जो धनी वर्ग रह जायगा वह अपने को मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यतः केवल लोक-सेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, उसके लिए तो शरीर-श्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह श्रम वास्तव में देखा जाय तो खेती ही है। पर आज की जो स्थिति है

उसमें सब उसे नहीं कर सकते । इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी एवज में दूसरा श्रम जैसे कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है । सब को अपना-अपना भंगी तो होना ही चाहिए । जो खाता है उसे मल-त्याग तो करना ही पड़ता है । मल-त्याग करनेवाले का ही अपने मल को गाड़ना सबसे अच्छी बात है । यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर अपना कर्त्तव्य पालन करे । मुझे तो वर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहां भंगी का अलग धंधा माना गया है वहां कोई महादोष घुस गया है । इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आवश्यक आरोग्य-रक्षक कार्य को किसने पहले नीचातिनीच ठहराया । ठहरानेवाले ने हम पर उपकार तो नहीं ही किया । हम सभी भंगी हैं, यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करने का सहज-से-सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे शरीर-श्रम का आरंभ पाखाना साफ करने से करें । जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षण से धर्म को भिन्न और सच्चे रूप में समझने लगेगा । बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने । बालक का समावेश माता में हो जाता है । यदि प्राकृतिक नियम भंग न हो तो बूढ़े अपंग न होंगे और रोग के होने की तो बात ही क्या है ?

: १२ :

आरोग्य के नियम

अपने शरीर की रक्षा करना और तन्दुरुस्ती के नियमों को जानना एक अलग ही विषय है, जिसका सम्बन्ध अभ्यास से और अभ्यास द्वारा प्राप्त ज्ञान के आचरण से है। जो समाज सुव्यवस्थित है, उसमें रहनेवाले सभी लोग—नागरिक—तन्दुरुस्ती के नियमों को जानते हैं और उनपर अमल करते हैं। अब तो यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि तन्दुरुस्ती के नियमों को न जानने से और उन नियमों के पालन में लापरवाह रहने से ही, जिन-जिन रोगों से मनुष्यजाति का परिचय हुआ है, उनमें से ज्यादातर रोग उसे होते हैं। हमारे देश की दूसरे देशों से बढ़ी-चढ़ी मृत्युसंख्या का मुख्य कारण निश्चय ही वह गरीबी है, जो हमारे देशवासियों के शरीरों को कुरेदकर खा रही है; लेकिन अगर उनको तन्दुरुस्ती के नियमों की ठीक-ठीक तालीम दी जाय तो इसमें बहुत कमी की जा सकती है।

मनुष्यजाति के लिए साधारणतः स्वास्थ्य का पहला नियम यह है कि मन चंगा है तो शरीर भी चंगा है। नीरोग शरीर में निर्विकार मन का वास होता है, यह एक स्वयं-सिद्ध सचाई है। मन और शरीर के बीच अटूट सम्बन्ध है। अगर हमारे मन निर्विकार यानी नीरोग हों तो वे हर तरह की हिंसा से मुक्त हो जायं और फिर हमारे हाथों तन्दुरुस्ती के नियमों का सहज

भाव से पालन होने लगे और किसी तरह की खास कोशिश के बिना ही हमारे शरीर तन्दुरुस्त रहने लगें। तन्दुरुस्ती के कायदे और आरोग्यशास्त्र के नियम बिलकुल सरल और सादे हैं और वे आसानी से सीखे जा सकते हैं। मगर उन पर अमल करना मुश्किल है। नीचे ऐसे कुछ नियम देता हूं :

हमेशा शुद्ध विचार करो और तमाम गन्दे व निकम्मे विचारों को मन से निकाल दो।

दिन-रात ताजा-से-ताजा हवा का सेवन करो।

शरीर और मन के काम का तौल बनाये रखो, यानी दोनों को बेमेल न होने दो।

तनकर खड़े रहो, तनकर बैठो और अपने हर काम में साफ और सुथरे रहो और इन सब आदतों को अपनी आन्तरिक स्वस्थता का प्रतिबिम्ब बनने दो।

खाना इसलिए खाओ कि अपने-जैसे अपने मानव-बन्धुओं की सेवा के लिए ही जिया जा सके। भोग भोगने के लिए जीने और खाने का विचार छोड़ दो। अतः उतना ही खाओ जितने से आपका मन और आपका शरीर अच्छी हालत में रहे और ठीक-से काम कर सके। आदमी जैसा खाना खाता है, वैसा ही बन जाता है।

आप जो पानी पियें, जो खाना खायें और जिस हवा में सांस लें, वह सब बिलकुल साफ होनी चाहिए। आप सिर्फ अपनी निज की सफाई से संतोष न मानें, बल्कि हवा, पानी और खुराक की जितनी सफाई आप अपने लिए रखें, उतनी ही सफाई का शौक आप अपने आस-

पास के वातावरण में और जगह में भी फैलायें।

: १३ :

खूराक

यह सही है कि हवा और पानी के बिना आदमी जी नहीं सकता। लेकिन मनुष्य का जीवन-निर्वाह तो खुराक से ही हो सकता है। अन्न उसका प्राण है।

मनुष्य-शरीर को स्नायु बनानेवाले, गरमी देने वाले, चरबी बढ़ाने वाले, क्षार देनेवाले और मलों को निकालनेवाले पदार्थों की जरूरत होती है। स्नायु गढ़ने-वाले तत्त्व दूध, मांस, दाल तथा सूखे मेवों में पाये जाते हैं। दूध मांस-द्रव्यों तथा दाल आदि की अपेक्षा आसानी से हजम होता है और सब तरह से अधिक लाभदायक है। दूध और मांस की तुलना में दूध बढ़ जाता है। दूध के विषय में एक बहुत आवश्यक बात कहनी हैं कि मक्खन निकाला हुआ दूध बेकार नहीं होता।

पूर्ण दूध या अपूर्ण दूध के अलावा मनुष्य को जिन दूसरे पदार्थों की आवश्यकता रहती है, उनमें दूसरा दर्जा गेहूं, बाजरा, ज्वार, चावल वगैरा अन्नों को दिया जा सकता है। हिंदुस्तान में प्रान्त-प्रांन्त में भिन्न-भिन्न अन्न होते हैं। बहुत स्थानों में सिर्फ स्वाद के लिए, एक ही तरह के गुणवाले, एक से अधिक किस्म के अन्न, एक ही खुराक में खाये जाते हैं। जैसे गेहूं, बाजरा, और चावल। तीनों एक साथ थोड़े-थोड़े लिए जाते हैं। शरीर के पोषण के लिए यह मिश्रण आवश्यक नहीं है।

इससे परिमाण नहीं सध पाता और मेदे पर जरूरत से ज्यादा बोझ पड़ जाता है। एक वक्त में एक ही अनाज खाना ठीक होता है। इन अन्नों में से विशेष रूप से स्टार्च मिलता है। सब अन्नों में गेहूं राजा है। दुनिया में, देखा जाय तो गेहूं ही अधिक खाया जाता है। आरोग्य के खयाल से गेहूं मिले तो चावल अनावश्यक है। जहां गेहूं न मिले और बाजरा-ज्वार इत्यादि अन्न न जंचें या न रुचें तो चावल लेना चाहिए।

सभी अन्नों को अच्छी तरह साफ करके, घर की चक्की में पीसकर, बिना छाने काम में लाना चाहिए। उनके छिलके में सत्त्व है और क्षार है। ये दोनों बहुत ही उपयोगी पदार्थ हैं। इसके सिवा, इसमें ऐसी चीज होती है जो बिना पचे निकल जाती है। अपने साथ वह मल को भी निकालती है। चावल का दाना नाजुक होने की वजह से कुदरत ने उसके ऊपर आवरण रखा है, जो खाने लायक नहीं होता। इसलिए धान कूटा जाता है। उसे उसी हद तक कूटना चाहिए कि सिर्फ ऊपरी छिलका निकल जाय। मशीन की कुटाई में तो उसका कन भी निकल जाता है। इसका कारण यह है कि यदि मशीनवाले कन रखें तो चावलों में तुरन्त लटें (कीड़े) पड़ जाती हैं। कारण, चावल के कन में बड़ा मिठास रहता है। गेहूं का चोकर या चावल का कन निकाल देने पर सिर्फ स्टार्च रह जाता है। चोकर और कनों के चले जाने पर अन्न का बहुत कीमती हिस्सा निकल जाता है। गेहूं का चोकर और चावल का कन यों पकाकर भी खाया जा सकता है।

उसकी रोटी भी बन सकती है। कोंकण में तो गरीब लोग चावलों का आटा पीसकर उसकी रोटी ही खाते हैं। चावल के आटे की रोटी, भात से शायद ज्यादा पाचक हो और कम खाकर यथेष्ट तृप्ति दे सके।

अपने यहां रोटी को दाल या शाक में डुबोकर खाने का रिवाज है। इससे रोटी ठीक चबाई नहीं जाती। स्टार्च*वाली चीजें जितनी चबाई जायं और मुंह की लार के साथ जितनी मिलें उतना ही लाभ है। यह लार स्टार्च पचाने में मदद करती है।

स्टार्च-प्रधान अन्न के बाद मांसपेशी गठन करनेवाली दाल को दूसरा दर्जा दिया जाता है। बिना दाल की खुराक को सब अधूरी मानते हैं। दालों में उर्द, बाकला (लोबिया) बहुत भारी गिनी जाती हैं। मूंग और मसूर हल्की। द्विदल अन्नों को बिना दले, रात भर भिगो कर अंखुआ निकलने पर चबाकर खाया जाय तो पचने में अपेक्षाकृत आसानी होगी।

खुराक में तीसरा दर्जा शाक और फल को देना चाहिए। शाक और दूध हिंदुस्तान में सस्ते होने चाहिए, पर ऐसा है नहीं। वह सिर्फ शहरवालों की खुराक समझी जाती है। देहात में सब्जी दैवयोग से ही मिलती है और बहुत जगह तो फल भी नहीं मिलते। खुराक का यह अभाव हिंदुस्तान की सभ्यता पर एक बहुत बड़ा धब्बा है। देहाती चाहें तो सब्जी खूब पैदा कर सकते हैं।

---

* स्टार्च अन्न के सफेद सार को कहते हैं, जो शरीर में वही काम करता है, जो कोयला इंजन में।

सब्जी में पत्तीदार साग, जो मिल सकें, वह अच्छी मात्रा में नित्य काम में लाना चाहिए। यहां जिस शाक की चर्चा है, उसमें स्टार्च-प्रधान शाक नहीं आते। स्टार्च-प्रधान शाकों में आलू, गंजी (शकरकंद), सूरन (ओल), अरवी गिने गये हैं। उन्हें अन्न में गिनना चाहिए। दूसरी सब्जियां अच्छी मात्रा में लेनी चाहिए। ककड़ी, लोना (अमलोनी), सरसों; सोवा, टमाटर आदि पकाने की कोई जरूरत नहीं। उन्हें साफ करके अच्छी तरह धोकर थोड़ी मात्रा में कच्चा खाना चाहिए।

फलों में मौसम के जो फल मिल सकें, खाने चाहिए। मौसम में आम, जामुन, अमरूद, पपीता, अंगूर, खट्टे-मीठे नीबू, संतरे, मौसम्बी आदि फलों का उचित उपयोग होना चाहिए। फल सुबह खाना अच्छा है। दूध और फल सुबह खाने से पूरी तृप्ति हो जाती है। जिनका खाने का वक्त जल्दी का है उनको सवेरे सिर्फ फल खाना अच्छा है। केला अच्छा फल है। लेकिन वह स्टार्चमय होने की वजह से रोटी की तरह है। केला और दूध तथा सब्जी पूरी खुराक है।

आदमी की खुराक में थोड़े-बहुत अंश में चिकनाई की जरूरत है। वह घी-तेल से पूरी होती है। घी मिल जाय तो तेल की कोई जरूरत नहीं। तेल पचने में भारी होता है। वह शुद्ध घी के समान गुणकारी नहीं है। मामूली आदमी को तीन तोला घी मिल जाय तो काफी समझना चाहिए। दूध में घी रहता ही है। जिसे घी महंगा पड़ता हो वह उतना तेल ले ले तो चिकनाई मिल जाती

है। तेलों में तिल, नारियल और मूंगफली का तेल अच्छा समझा जाता है। तेल ताजा होना चाहिए। इसलिए देशी कोल्हू का मिले तो अच्छा। शुद्ध के बदले चाहे जैसा लेकर कभी संतोष नहीं करना चाहिए।

खूराक में जैसे चिकनाई की जरूरत है वैसे ही गुड़-शक्कर की है। यद्यपि मीठे फलों से बहुत मिठास मिल जाता है, फिर भी दो-तीन तोला गुड़ या शक्कर लेने में हानि नहीं है। मीठे फल न मिलें तो गुड़-शक्कर की जरूरत रहती है। लेकिन आजकल मिठाई पर जो जोर दिया जाता है वह उचित नहीं है। यह कहने में मुझे बिलकुल अतिशयोक्ति नहीं मालूम होती कि जिस देश में करोड़ों मनुष्यों को पूरा अन्न भी नहीं मिलता, वहां जो पकवान खाते हैं वे चोरी का खाते हैं।

जो बात मिठाई की है वही घी-तेल की है। घी-तेल में तली हुई वस्तुएं खाने की कोई आवश्यकता नहीं है। पूड़ी, लड्डू आदि बनाने में जो घी-तेल आदि बरता जाता है वह बे सोचा-समझा खर्च है। बिना आदतवाले इन चीजों को खा ही नहीं सकते।···मैंने बहुत बार खाने-वालों को बीमार पड़ते पाया है। स्वाद ऊपर से लगाई हुई वस्तु है। भूख में जो स्वाद रहता है वह स्वाद छप्पन भोगों में नहीं मिलता। भूखा आदमी सूखी रोटी बड़े मजे से खाता है। पेट-भरा अच्छे-से-अच्छा समझा जानेवाला पकवान भी नहीं खा सकता।

कब, कितना और कितनी बार खाना उस पर भी विचार करना चाहिए। हम जो भी खायं उसे औषधि-

रूप समझकर खायं, स्वाद के लिए तो कभी नहीं। सब स्वाद रस में है और रस भूख में है। पेट क्या मांग रहा है, इसका पता बहुत कम लोगों को होता है; क्योंकि आदतें बिगड़ गई हैं।

जन्म देनेवाले माता-पिता कोई त्यागी या संयमी नहीं होते। उनकी आदतें बच्चों में कइ अंशों में आती हैं। बच्चा जब मां के पेट में होता है तब मां जो खाती है उसका असर बच्चे पर जरूर पड़ता है। फिर बचपन में मां जो खुद खाती है, वही बच्चों को खिलाती है, इससे बचपन से ही मेंदे को बुरी आदत पड़ जाती है। उससे बच पानेवाले विचारशील तो बहुत कम हो सकते हैं। लेकिन जब मनुष्य के ध्यान में यह आ जाता है कि वह अपने शरीर का संरक्षक है और शरीर सेवा के लिए अर्पण हुआ है तब शरीर को स्वस्थ रखने के नियम जानने की उसे इच्छा होती है और उन नियमों के पालन का वह पूर्ण प्रयास करता है।

हमें दिन में कितनी बार खाना चाहिए ? अधिक लोग तो सिर्फ दो बार ही खाते हैं। साधारणतः तीन बार खाया जाता है : सुबह काम पर लगने के पहले, दो-पहर को और शाम को या रात में। इससे ज्यादा बार खाने की कोई जरूरत नहीं होती। शहरों में कितने ही लोग बार-बार खाते रहते हैं। यह हानिकारक है। मेंदे को आराम की जरूरत होती है।

गांधीजी द्वारा लिखित

हमारे कुछ विशेष प्रकाशन

१. आत्म-कथा (सम्पूर्ण)
२ संक्षिप्त आत्म-कथा
३. गीता-माता
४. गीता-बोध
५. अनासक्ति-योग
६. गीता की महिमा
७. गीता पदार्थकोश
८. मंगल-प्रभात
९. सर्वोदय
१०. आश्रमवासियों से
११. नीति-धर्म
१२. देश सेवकों के संस्मरण
१३. प्रार्थना-प्रवचन (भाग २)
१४. गांधी-शिक्षा (भाग १,२,३)